

कैमलेश्वर-

साहित्य अकादमी
द्वारा
पुरस्कृत

कितने पाकिस्तान

कितने पाकिस्तान

पहला संस्करण	:	जनवरी, 2000
दूसरा संस्करण	:	जून, 2000
तीसरा संस्करण	:	नवम्बर, 2000
चौथा संस्करण	:	फरवरी, 2001
पांचवां संस्करण	:	जुलाई, 2001
छठा संस्करण	:	जून, 2002
सातवां संस्करण	:	फरवरी, 2003
आठवां संस्करण	:	अप्रैल, 2004
नौवां संस्करण	:	अप्रैल, 2006
दसवां संस्करण	:	अप्रैल, 2007
ग्यारहवां संस्करण	:	फरवरी, 2008
बारहवां संस्करण	:	अक्टूबर, 2008
तेरहवां संस्करण	:	फरवरी, 2009
चौदहवां संस्करण	:	अप्रैल, 2010
पन्द्रहवां संस्करण	:	जनवरी, 2013
सोलहवां संस्करण	:	जनवरी, 2015



ISBN : 9788170284765

संस्करण : 2015 © कमलेश्वर

KITNE PAKISTAN (Novel) by Kamleshwar

राजपाल एण्ड सन्ज़

1590, मदरसा रोड, कश्मीरी गेट-दिल्ली-110006

फोन: 011-23869812, 23865483, फैक्स: 011-23867791

e-mail : sales@rajpalpublishing.com
www.rajpalpublishing.com
www.facebook.com/rajpalandson

कितने पाकिस्तान

कमलेश्वर



इन बंद कमरों में मेरी साँस घुटी जाती है
खिड़कियाँ खोलता हूँ तो ज़हरीली हवा आती है

यह उपन्यास

यह उपन्यास मन के भीतर लगातार चलने वाली एक जिरह का नतीजा है। दशकों तक सभी कुछ चलता रहा। मैं कहानियाँ और कॉलम लिखता रहा। नौकरियाँ करता और छोड़ता रहा। टीवी के लिए कश्मीर के आतंकवाद और अयोध्या की बाबरी मस्जिद विवाद पर दसियों फ़िल्में बनाता रहा। सामाजिक हालात ने कचोटा तो शालिनी अग्निकांड पर 'जलता सवाल' और कानपुर की बहनों के आत्महत्याकांड पर 'बन्द फाइल' जैसे कार्यक्रम बनाने में उलझा रहा। इस बीच एकाध फ़िल्में भी लिखीं। चंद्रकांता, युग, बेताल, विराट जैसे लम्बे धारावाहिकों के लेखन में लगा रहा।

इसी बीच भारतीय कृषि के इतिहास पर एक लम्बा श्रृंखलाबद्ध धारावाहिक लिखने का मौका मिला। कई सभ्यताओं के इतिहास और विकास की कथाओं को पढ़ते-पढ़ते चश्मे का नम्बर बदला। एक-एक घंटे की 27 कड़ियों को लिखते-लिखते बार-बार दिमाग आदिकाल और आर्यों के आगमन को लेकर सोचता रहा। बुद्धि और मन का सच मोहनजोदड़ो-हड़प्पा सभ्यता और आर्यों के बीच स्थापित किए गए 'संघर्ष-सिद्धान्त' को स्वीकार करने से विद्रोह करता रहा। उस एपीसोड को मैंने कई बार लिखा। एक बार तो मैंने ऊब कर, काम निपटाने की नीयत से, पश्चिमी विद्वानों के 'आर्य-आक्रमण' के सिद्धान्त को स्वीकार करके वह अंश लिख डाला। फिर लोकमान्य तिलक की इस थ्योरी और उद्भावना से भी उलझता रहा कि आर्य भारत के मूल निवासी थे। मैंने इस उद्भावना को लेकर वह अंश फिर लिखा; लिखने के बाद भी मन निर्भ्रान्त नहीं हुआ। लगा यही कि यह बात भी रचना के सम्भावित सत्य तक नहीं पहुँचाती। सच को यदि पहले से सोच कर मान्य बना लिया जाए तो यह सत्याभास तो दे सकता है, पर आन्तरिक सहमति तक नहीं पहुँचाता। शायद तब, रचना अपने सम्भावित सत्य को खुद तलाशती है। उसी तलाश ने मुझे यह बताया कि आर्यों के आक्रामक होने के कोई कारण नहीं थे। वे आक्रांता नहीं थे। वे आर्य आदिम कृषि से परिचित खानाबदोश कबीले थे, जो सहनशील प्रकृति और सृजनगर्भा धरती की तलाश में निकले थे। सिन्धु घाटी में सहनशीला प्रकृति तो थी ही, सृजनगर्भा धरती की भी कमी नहीं थी। इसलिए आक्रमण या युद्ध की ज़रूरत नहीं थी। आर्य आए और इधर-उधर बस गए होंगे।

वेदों में असुरों से युद्धों की जो अनुगूँज मिलती है, वह निश्चय ही सत्ता, समाज, वैभव और जीवन-पद्धति के स्थिरीकरण के बाद की उपरान्तिक गाथा है। दुनिया की सभ्यताओं के इतिहास में, किसी आक्रांता जाति समुदाय ने वेदों जैसे रचनात्मक ग्रन्थों के लिखे जाने का कोई प्रमाण नहीं दिया है। ऐसे ग्रंथ शांति, धीरज और आस्था के दौर में ही

लिखे जा सकते हैं, युद्धों के दौर में नहीं। रचना के इस संभावित सत्य ने मुझे सांत्वना दी। तब 'कृषि- कथा' का लेखन हो सका।

इन और ऐसी तमाम रचनाओं, विचारों, इतिहास की सैकड़ों सर्जनात्मक दस्तकों और व्यवधानों के बीच रुक-रुक कर 'कितने पाकिस्तान' का लिखा जाना चलता रहा। उन तमाम विधाओं की तकनीकी सर्जनात्मकता का लाभ भी मुझे मिलता रहा। शब्द-स्फीति पर अंकुश लगा रहा।

इसे मैंने मई, सन् 1990 में लिखना शुरू किया था। घने जंगल के बीच देहरादून के झाजरा वन विश्राम गृह में सुभाष पंत ने व्यवस्था करवा दी थी। रसद वगैरह नीचे से लानी पड़ती थी। गायत्री साथ थी ही। साथ में हम अपने 4 बरस के नाती अनंत को भी ले गए थे। एक कुत्ता वहाँ आता था, उससे अनंत ने दोस्ती कर ली थी। उसका नाम मोती रख लिया था। कभी-कभी वहाँ बहुरंगी जंगली मुर्गे भी आते थे। अनंत उन्हें देखने के लिए दूर तक चला जाता था।

जंगल की पगडंडियों से यदा-कदा लकड़हारे आदिवासी गुज़रते रहते थे। एक दिन अनंत मुर्गों का पीछा करते-करते गया तो नज़र से ओझल हो गया। गायत्री बहुत ज्यादा चिंतित हो गई। तलाशा, आवाजें लगाई, घबरा के इधर-उधर दौड़े-भागे पर अनंत का कहीं कोई पता नहीं चला। तभी एक गुजरते बूढ़े ने बताया कि उसने जंगल में कुछ दूर पर एक छोटे बच्चे को लकड़हारे के साथ जाते देखा था...यह सुनकर गायत्री तो अशुभ आशंका और भय से लगभग मूर्छित ही हो गई। आदिम कबीलों की नरबलि वाली परम्परा की पठित जानकारी ने गायत्री को त्रस्त कर दिया था। आशंकाओं से ग्रस्त मैं भी था। मैं गायत्री को संभाल कर, पानी पिला कर, उसे नौकर के हवाले करके फौरन निकला। बूढ़े ने जिधर बताया था, उधर वाली पगडंडी पर उतर कर तेजी से चला, तो कुछ दूर पर देखा—एक लकड़हारे के कन्धों पर पैर सामने लटकाए उसकी पगड़ी पर बाँहें बाँधे, किलकारी मारता अनंत बैठा था। लकड़हारे के बायें हाथ में कुल्हाड़ी थी, और वह उसे लिए हुए सामने से चला आ रहा था। जान में जान आई। पता चला, वह अनंत को हिरन और भालू दिखाने ले गया था।

इस घटना ने मुझे आदिम कबीलेवालों को जानने, पहचानने और उनके बारे में पठित तथ्यों से अलग अनुभवजन्य एक और ही सोच दी थी। सात-आठ बरस बाद अनुभव के इसी अंश ने मेरा साथ तब दिया जब मैं उपन्यास में माया सभ्यता के प्रकरण से गुज़र रहा था। बहरहाल...

मेरी दो मजबूरियाँ भी इसके लेखन से जुड़ी हैं। एक तो यह कि कोई नायक या महानायक सामने नहीं था, इसलिए मुझे समय को ही नायक-महानायक और खलनायक बनाना पड़ा।

और दूसरी मजबूरी यह कि इसे लिखते समय लगातार यह एहसास बना रहा कि जैसे यह मेरी पहली रचना हो...लगभग उसी अनकही बेचैनी और अपनी असमर्थता के बोध से मैं गुज़रता रहा...आखिर इस उपन्यास को कहीं तो रुकना था। रुक गया। पर मन की जिरह अभी भी जारी है...

दिल्ली : 29.12.99

अमरेश्वर

दूसरे संस्करण की भूमिका

फरवरी 2000 में इस उपन्यास का पहला संस्करण छपा था। भाई विश्वनाथ जी ने जून में सूचना दी कि दूसरा संस्करण छप गया है, और यह भी कि साढ़े तीन महीनों में ही इसका पूरा संस्करण समाप्त हो गया। यह तब, जब कि किसी सरकारी या थोक खरीद का कोई आर्डर उनके पास नहीं था। सुनकर सुखद आश्चर्य हुआ। इसका मूल्य भी कम नहीं है, कि औसत पाठक आसानी से खरीद सके।

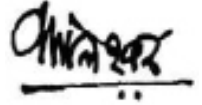
सबसे ज़्यादा और चमत्कृत करने वाला आश्चर्य तो तब हुआ था जब भाई महेंद्र कुलश्रेष्ठ ने इसके छपने के डेढ़-दो महीने बाद बताया था कि पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के कुछ नगरों में इसके फोटोस्टेट (पाइरेटेड) संस्करण 80-80 या 100-100 रुपये में बिक रहे हैं।

प्रकाशक के लिए वह सूचना सुखद नहीं थी लेकिन मेरे लिए यह मेरे जीवन की एक सुखदतम सूचनाओं में थी।

अपने प्रकाशक के साथ ही मैं अपने समकालीन लेखक बंधुओं, समीक्षकों, रचनाकारों, प्रतिक्रिया स्वरूप पत्र लिखने वाले सैकड़ों पाठकों, हिन्दी के तमाम समाचार पत्रों, पत्रिकाओं का आभारी हूँ, जिन्होंने अपनी उन्मुक्त-बेलाग प्रतिक्रियाओं से इस रचना को नवाज़ा है।

मैं मन से अभिभूत और विनत हूँ।

5/116, इरोज गार्डन,
सूरजकुण्ड रोड, नई दिल्ली-110044



तीसरे संस्करण की भूमिका

मैं अपने हज़ारों-हज़ार पाठकों का हृदय से आभारी हूँ। सात महीनों में तीसरा संस्करण आना नितांत अकल्पनीय सच्चाई है। और वह भी तब जब कहा जाता है कि पाठकों का अकाल है। यह भी कि इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ने पाठकों को पुस्तक से विरत कर दिया है। ऐसे दुष्काल में पाठकों ने मुझे अपने लेखन की सार्थकता का एहसास दिया है।

पुस्तक मेले के समय फरवरी 2000 में इसका पहला संस्करण आया था। चार महीने बाद जून 2000 में दूसरा संस्करण आया, और अब तीन महीने बाद यह तीसरा संस्करण! तीसरे संस्करण की सूचना से पहले मुझे खबरें मिलीं कि इलाहाबाद विश्वविद्यालय परिसर और जे.एन.यू. दिल्ली में 'कितने पाकिस्तान' की फोटोस्टेट कवर-रहित और कवर-सहित कापियाँ क्रमशः 80-100 और 120 रुपये में बिक रही हैं। कुछ विद्यार्थियों ने चंदा जमा करके इसकी कापी खरीदी और पढ़ी। यही मेरा सबसे बड़ा रचनात्मक प्राप्य है। मैं आने वाले समय को तो नहीं बदल सकता लेकिन जो उसे बदल सकते हैं, उन तक मैं पहुँच सका हूँ।

एक फोटोस्टेट पाइरेटिड प्रति मुझे देखने को मिली। वह मेरे लेखन की अस्मिता का अप्रतिम प्रमाण-पत्र बन गई।

इस उपन्यास पर सब जगहों से प्रतिक्रियाएँ आईं। भारतीय द्विभाषी लेखकों ने उन्मुक्त राय दी। अनुवाद की पेशकश की। अंग्रेज़ी सहित सात भारतीय भाषाओं में अनुवाद की शुरुआत हुई। अप्रत्याशित पत्र-पत्रिकाओं में चर्चा हुई, हो रही है। जाने-अनजाने पाठकों, विद्वानों, मित्रों की बेलाग प्रतिक्रियाओं से मैं अभिभूत और आप्लावित हुआ।

इसी के साथ-साथ कुछ स्वयंसेवी साहित्यकारों के लिए यह उपन्यास, इसकी सार्वभौम चर्चा और स्वीकृति यंत्रणा का कारण बन गई।

मैंने यह उपन्यास उन्हें कष्ट पहुँचाने के लिए नहीं लिखा था।

साहित्य में इधर एक दशक से घटिया बाज़ारवाद पनपा है। यशप्रार्थी और प्रशंसाप्रदाताओं के रचनास्खलित बौद्धिक बूचड़खानों का तेज़ी से विकास हुआ है। इन बूचड़खानों के दादाओं में आपसी लड़ाइयाँ भी होती रहती हैं। फिर उनके समझौते भी हो जाते हैं। कहीं ज़्यादा गहरे स्वार्थ टकरा गए तो उनके बीच चरित्र-हनन की वारदातें भी हो जाती हैं। वैसे फ़िलहाल दादालोग कुछ पत्र-पत्रिकाओं के पन्नों पर अपने दुर्गाधित अधोवस्त्र धो रहे हैं। वे अनुभव और प्रश्नों की दुनिया से कट गए हैं।

लगता यही है कि आज शब्द का पारदर्शी पसीना सूख गया है। रौशनाई स्याही में बदल गई है।

अपने इस दौर के ऐसे तमाम सिद्धांतवादियों, स्वलित रचनाकारों, खुद को साहित्य का नियंता समझने वाले कुंठित ईर्ष्यावादियों को गले लगाते हुए इतना ही कहना ज़रूरी समझता हूँ कि—

आ जा रकीब मेरे तुझ को गले लगा लूं
मेरा इश्क कुछ नहीं था तेरी दुश्मनी से पहले

अंततः तो साहित्य और रचना का यह इश्क ही तय करेगा कि कौन कितने आँसुओं के पानी में था और है। बहरहाल।

अभी इस उपन्यास की पाँच प्रतियों की मुझे ज़रूरत पड़ी तो बताया गया कि एक या दो प्रतियाँ तो उपलब्ध हो सकती हैं पर पाँच नहीं। वे भूमिका मिलने और तीसरे संस्करण के छपने के बाद ही उपलब्ध हो सकेंगी। मेरा संतोष यही है कि तमाम पाठक और खास तौर से नौजवान पीढ़ी इसे सात्विक उत्साह से पढ़ रही है। यही पवित्र यश है। यही मेरा प्राप्य है।

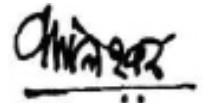
पचास-पचपन बरस पहले जो अमूर्त-सी शपथ कभी उठाई थी कि रचना में ही मुक्ति है, उस मुक्ति का किंचित एहसास अब हुआ है। ज़िन्दगी जीने, दायित्वों को सहने और रचना की इस बीहड़ यात्रा के दौरान जो कभी सोचा था, सोचता रहा था कि 'वाम चिरंतन है' उसकी गहरी प्रतीति भी मुझे इसके साथ मिली है।

और अंत में इस तीसरे संस्करण के साथ पिछले संस्करणों पर छपी लाइनों कि 'इन बंद कमरों में मेरी साँस घुटी जाती है, खिड़कियाँ खोलता हूँ तो ज़हरीली हवा आती है', के गुमनाम शायर को अपनी अकीदत पेश करते हुए अब मैं फिराक़ साहब की इन लाइनों पर अपनी बात को थोड़ा सा विराम देता हूँ :

इन कफ़स की तीलियों से
छन रहा कुछ नूर-सा
कुछ फ़ज़ा कुछ हसरते परवाज़ की बातें करो...

साहित्य इसी 'हसरते परवाज़' का पर्याय है।

5/116, इरोज गार्डन,
सूरजकुण्ड रोड, नई दिल्ली-110044



पाँचवें संस्करण की भूमिका

इतनी जल्दी फिर यह संस्करण! प्रतिक्रियाओं की भरमार और विचारों की उथल-पुथल। विराट वैचारिक फलक पर इस रचना के इतने विस्तार ने इस 'मिथ' को भी तोड़ा है कि हिन्दी में पाठक नहीं हैं, हिन्दी में गम्भीर पाठक नहीं हैं। अगर नहीं हैं तो इस उपन्यास को कौन खरीद रहा है और पढ़ रहा है? प्रकाशन के समय (फरवरी 2000 से जुलाई 2001) से अब तक इन अट्टारह महीनों में मैं प्रतिक्रियाओं से आप्लावित रहा हूँ। और ये सारी प्रतिक्रियाएँ या तो साधारण पाठकों की हैं या उन पाठकों की, जो हिन्दी के वैचारिक और रचना परिदृश्य से एक साज़िश के तहत अदृश्य रहते या रखे जाते हैं।

अब मैं यह कहने में क़तई संकोच नहीं करूँगा कि इस रचना ने हिन्दी आलोचना के शिविरबद्ध संस्थानों की प्राचीरों के पार जाकर पाठक से वह रिश्ता कायम किया है जो इन व्यक्ति-संस्थानों ने खण्डित कर दिया था। इसने साहित्य के पुरोहितवाद को खारिज किया है।

बहस के कई मुद्दे भी उठे हैं। सन्तोष की बात यह है कि ये मुद्दे पाठकों ने उठाए हैं या रचनाकारों ने पाठकों की तरह उठाए हैं। एक खास मुद्दा इसकी प्रयोगशीलता को लेकर उठा है। अनेक पाठक मित्रों ने देश के कोने-कोने से लिखते हुए इसकी प्रयोगशीलता की पहचान और सराहना की है। अग्रज लेखक विष्णु प्रभाकर जी ने जब यह लिखा कि 'इसने उपन्यास के बने-बनाए ढाँचे को तोड़ दिया है और लेखकीय अभिव्यक्ति के लिए सब कुछ सम्भव बना देने का दुर्लभ द्वार खोलकर एक नया रास्ता दिखाया है... यह एक नया प्रयोग है।' तब मैं सचमुच आश्चर्यचकित हुआ कि यदि इसकी प्रयोगशीलता को इस रूप में लिया जा रहा है तो यह मात्र प्रयोग के लिए प्रयोग नहीं बल्कि यह इसका प्रयोजन भी है।

फिर स्वयंप्रकाश जैसे गम्भीर और सृजनरत समकालीन का पत्र मिला। उन्होंने लिखा—'कहना चाहिए कि यह नाटक की ब्रेख्तियन पद्धति का उपन्यास में पहली बार निवेश करता है—और बेशक खतरे उठाते हुए और इसकी कीमत चुकाते हुए भी अपने मक़सद में कामयाब रहता है...इसलिए इसे क्या कहें? अनुपन्यास? या प्रतिउपन्यास? लेकिन ऐसा कहने से कलावादी-रूपवादी प्रतिक्रियावाद की बू आती है, लेकिन उन्हें देखना चाहिए कि शिल्प के उनसे बड़े और ज़्यादा जोखिमवाले प्रयोग प्रगतिशील लेखक कर सकते हैं।'

परिभाषावाली बात को फ़िलहाल स्थगित रखते हुए प्रयोगवाले मुद्दे पर कालीकट (केरल) से लिखित कोविद अनन्तमूर्ति अनंगम की चन्द सतरें देना चाहता हूँ। इसमें अतिरेक और अतिरंजना है पर वह स्वतःस्फूर्त भी हैं। वे कहते हैं कि 'इस उपन्यास ने

प्रेमचन्द से बहुत आगे जाकर जिस वैश्विक चिन्ता से हमें जोड़ा है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रयोग के धरातल पर तो (इसने) कमाल किया है। प्रेमचन्द प्रयोगवादी नहीं थे, लेकिन प्रयोगवादी वात्स्यायन को उन्होंने सदियों पीछे छोड़ दिया है। (इनकी) भाषा ने जैनेन्द्र की निजी भाषा से हिन्दी को मुक्त करके उस भाषा और मुहावरे को पकड़ा है जो भविष्य की भाषा है।

यह उद्धरण मैं प्रशस्ति-गायन के लिए नहीं, 'प्रयोग' के मुद्दे को सुलझाने के लिए दे रहा हूँ। मैं कहना चाहता हूँ कि जो भी प्रयोग इस रचना में हुआ या हो गया है, वह मेरे कारण नहीं बल्कि 'कथ्य' के कारण हुआ है। लेखक प्रयोगवादी होने का दम्भ पाल सकता है पर प्रयोग की सारी सम्भावनाएँ केवल कथ्य में निहित होती हैं।

अब परिभाषा का सवाल। यह उपन्यास है या कुछ और, तो मैं यही कह सकता हूँ कि इसे मैंने उपन्यास की तरह ही शुरू किया था और उपन्यास मानकर ही पूरा किया है। इसे उपन्यास की तरह ही पढ़ा गया है। मेरी समझ से यह परिभाषा का कोई संकट खड़ा नहीं करता। यदि थोड़ा-सा संकट खड़ा भी होता है तो इसलिए कि इसमें राष्ट्रीय, सभ्यतागत, समयगत समस्याओं का विस्तार हुआ है। वैश्विक चिन्ताओं के बीच इसमें हर देश में मौजूद 'अपने देश' को पहचानने की कोशिश की गई है।

भाषा को लेकर जो सवाल उठे हैं उनको स्पष्ट करने के लिए अहिन्दी भाषाओं के मात्र दो पाठकों के विचार ही काफ़ी होंगे। मराठी भाषी डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे ने कहा है कि बहुत अच्छा मराठी अनुवाद मौजूद होने के बाद भी वे इसे हिन्दी में पढ़ने के लिए उत्सुक हुए और उन्हें यह लगा कि यह (यानी इसकी) हिन्दी उन सबकी हिन्दी है जो हिन्दीवालों की वैयक्तिक हिन्दी नहीं बल्कि भविष्यमुखी राष्ट्रीय हिन्दी होगी। ओड़ीशा में गौरीभुवन दास ने बताया कि 'यह उपन्यास ओड़िया में सम्भवतः अगस्त में आ रहा है, पर इसके हिन्दी संस्करण के आधार पर कुछ समीक्षाएँ ओड़िया में पहले ही छप रही हैं। उन्हें पढ़कर मैंने बड़ी कठिनाई से हिन्दी संस्करण प्राप्त किया। इसकी हिन्दी हमें सब कुछ सहजता से समझा देती है। यह साम्राज्यवादी हिन्दी नहीं, यह भारतीय हिन्दी है, यह भारत की जनवादी हिन्दी है।'

कुछ जगहों से इसके शीर्षक 'कितने पाकिस्तान' को लेकर उत्कट विरोध के स्वर भी सुनाई दिए। प्रमाणस्वरूप कुछ संस्थागत खतो-किताबत मेरे पास है पर उसे मैं फ़िलहाल विवाद का विषय नहीं बनाना चाहता। हिन्दी के प्रतिष्ठानी 'साहित्यिक स्वयंसेवकों' ने भी कुछ बौद्धिक दंगा-फ़साद करवाना चाहा, पर व्यापक पाठक वर्ग पर उसका कोई असर नहीं हुआ। एक अपुष्ट समाचार मिला कि जोधपुर में इस उपन्यास की एक प्रति को विरोधस्वरूप जलाया गया। एक प्रति के कारण आग दर्शनीय नहीं बनी, तो जो भी किताबें-कागज़ हाथ लगे, उन्हें झोंककर आग को प्रचण्ड बनाया गया। बहरहाल...

मेरा प्राप्य यही है कि मेरे रचनाकार के मन में जो बैचेनी पल रही थी...दिमाग पर जो दस्तकें लगातार पड़ रही थीं और जिरह जारी थी, उसमें अब देश के हर कोने का पाठक मेरा सहभागी और सहयात्री है।

यही मेरा भरपूर प्राप्य है। इसने मेरी रचनात्मक उम्र को बढ़ाया है। वामधर्मी होने की मेरी आस्था को भारतीयता के सन्दर्भ और परिप्रेक्ष्य में रेखांकित किया है।

इससे अधिक और मैं क्या चाह सकता हूँ सिवा इसके कि रचना मुझे रचना के प्रति प्रतिश्रुत बनाए रहे...और इसके आगे की दास्तान को लिखने की ताकत देती रहे...लेखक-पाठक का यह ज़रूरी और कारगर रिश्ता क़ायम रहे!

विनम्र भाव से पाठकों को फिर प्रणाम करते हुए—

5/116, इरोज गार्डन,
सूरजकुण्ड रोड, नई दिल्ली-110044

अशोक

छठे संस्करण की भूमिका

पाँचवें संस्करण वाली टिप्पणी में काफ़ी विस्तार से मैंने प्रयोगशीलता और इसके उपन्यास होने की परिभाषा को लेकर अपनी बात रखी थी। पाठकों ने इसे जिस तरह स्वीकार किया है और इसका पाठकीय फलक जिस तेज़ी से विस्तृत हुआ है, उसकी गवाही यह छठा संस्करण दे रहा है।

इस बीच एक उत्साहित करने वाला प्रसंग भी उद्घाटित हुआ है। 'कितने पाकिस्तान' को केंद्र में रखकर मथुरा, सतना, छिंदवाड़ा, सोलापुर, लातूर, देहरादून, चंडीगढ़ आदि कई अन्य जगहों, शहरों में इस पर गोष्ठियाँ और विचार-विमर्श हुआ है। जहाँ मैं मौजूद रह सका वहाँ सवाल-जवाब का लम्बा सिलसिला चला है, सुखद अनुभव यह था कि पाठकों की उपस्थिति मुझे चौंकाती थी और सबसे ज़्यादा आश्चर्य करने वाली स्थिति यह थी कि मुझे उनमें से कइयों के हाथों में उपन्यास की चिह्नित प्रति दिखाई देती थी। वे पन्ने पलट कर चिह्नित अंश देखते और उपन्यास के विविध प्रसंगों पर विचार व्यक्त करते थे या प्रतीकों, घटनाओं, वृत्तांतों के बारे में विस्तृत वर्णन चाहते थे।

यानी हर अध्याय में वे अपनी तरफ़ से कुछ जोड़ना चाहते थे, कई और पाठक चाहते थे कि अदीब की अदालत में कुछ और इतिहास-पुरुषों को बुलाया जाता...रचना के साथ पाठक की सहभागिता की यह अनुभूति विस्मयकारी और विलक्षण थी। मेरे पाठक उपन्यास के अध्यायों के बाद स्वयं अपने मानस में रचनारत थे...यह बहुत गहरी प्रतीति थी...कि रचना यदि पाठक के लिए रचना का मानसिक और वैचारिक अवकाश (स्पेस) पैदा करती है तो लेखक के पास से समाप्त होने के बाद उसकी पुनर्रचना पाठक-दर-पाठक करता रहता है।

और इस प्रक्रिया में अधिकांश उनका था जो नौजवान और छात्र थे! सुखद यह भी था कि इस पर चौदह या पंद्रह लघु शोध प्रबंध (एम.फिल.) उन्हीं छात्रों ने लिखे जिन्होंने इसे 'अपने अनुभव' के रूप में ग्रहण किया था।

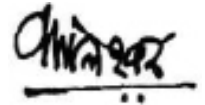
एक और बात कि इस उपन्यास ने मुझे अलग-अलग जगहों पर गम्भीर समाजशास्त्रियों और इतिहासकारों से मिलवाया। उन्हें इसमें इतिहास और समाजशास्त्र के कुछ वे स्रोत उजागर होते नज़र आए जिनके बारे में मुझे खुद ज़्यादा पता नहीं था, हालांकि कुछ स्रोतों को मैंने खंगाला ज़रूर था और ज़रूरी लायब्रेरियों और ग्रंथों से उनकी पुष्टि की थी।

एक अन्य स्तर पर इस उपन्यास से सोच और विचार की प्रक्रिया भी शुरू हुई। सभ्यता और संस्कृति के इतिहास वाले पक्ष पर पहली नज़र हिन्दी के प्रखर आलोचक डॉ.

पुष्पपाल सिंह ने डाली। उन्होंने विशद रूप से उपन्यास के तमाम प्राण-बिन्दुओं को तलाशा। इसके बाद राजस्थान विश्वविद्यालय के प्रख्यात इतिहासकार डॉ. देवनारायण आरोपा ने इसे प्राचीन इतिहास और सभ्यताओं के विकासक्रम के फलक पर इसके कथा-वृत्तांत को फैला कर विवेचित किया और कहा कि 'यह पुस्तक एक पठनीय सपना भी है और सपना साकार करने की रचना भी।' इन दोनों जीवन्त बुद्धिजीवियों की राय से मेरा रचना-मन अभी आश्वस्त हुआ ही था कि अमृता प्रीतम जी की प्रतिक्रियाओं की लहर आ गई। अमृता जी ने 'टाइम्स आफ इंडिया' में कहा कि सलमान रुश्दी को अगर भारतीय साहित्य जानना है तो वे 'कितने पाकिस्तान' पढ़ लें।

ऐसा नहीं है कि इस उपन्यास को लेकर मैं आश्वस्त नहीं था। लिख लेने के बाद और छपने से पहले मैंने अनासक्त भाव से सोचा था पर फिर प्रतिक्रियाओं का जो आप्लावन हुआ उसने मेरे लेखन का दायित्व और उम्र बढ़ा दी। मिली दुआओं के साए तले मैं हाथ जोड़े बैठा हूँ। मैं विनत भाव से माँ की तस्वीर को देखता हूँ। माँ की नज़रें मुझे नहीं, मेरे कलम को देख रही हैं! पिता तो थे नहीं, पहली बार मुझे कलम पकड़ा कर माँ ने ही अक्षर ज्ञान कराया था।

5/116, इरोज गार्डन,
सूरजकुण्ड रोड, नई दिल्ली-110044



यह आठवाँ संस्करण

चौथे और सातवें संस्करण की भूमिकाएँ नहीं लिखी जा सकीं क्योंकि पुस्तक के इन संस्करणों का तत्काल छपना ज़रूरी था। भूमिकाओं की ज़्यादा ज़रूरत अनुवादक मित्रों और शोध छात्रों को पड़ती है। अभी तक इस उपन्यास का अनुवाद मराठी, उर्दू, उड़िया, गुजराती, पंजाबी और बंगला भाषाओं में हो चुका है।

••

इस आठवें संस्करण की भूमिका स्वरूप मैं सिर्फ़ एक पत्र और मामूली-सी जानकारी देना चाहता हूँ। पहले डॉ. अरुणा उप्रेती का पत्र :

डॉ. अरुणा उप्रेती
पो. बा. नं. 355
काठमाण्डू (नेपाल)

9 फरवरी 2003

प्रिय कमलेश्वर जी,

मैं डॉ. अरुणा उप्रेती नेपाल की रहनेवाली हूँ। मैं पेशे से मेडिकल डॉक्टर हूँ। मैं हिन्दी पढ़ सकती हूँ, बोल सकती हूँ पर लिख नहीं सकती, इसलिए यह खत अंग्रेज़ी में लिख रही हूँ।

यह खत मैं आपको अफ़गानिस्तान से लिख रही हूँ। एक मित्र से निवेदन किया है कि वह इसे दिल्ली से आपको पोस्ट कर दे। मैं आपकी पुस्तक 'कितने पाकिस्तान' लगभग तीस बार पढ़ चुकी हूँ (इसका आशय अलग-अलग अंशों को कई-कई बार पढ़ने से ही होगा-लेखक)। इस पुस्तक को लिखने के लिए मैं आपका आभार व्यक्त करना चाहती हूँ, क्योंकि हिन्दी में इस प्रकार की पुस्तक का लिखा जाना बहुत मुश्किल है। मैं समझती हूँ कि आपने बहुत बड़ा काम किया है।

जैसा कि मैंने पहले बताया, मैं पेशे से डॉक्टर हूँ और अफ़गानिस्तान के धुर देहात में घायलों और बीमारों की देखभाल के काम में लगी हुई हूँ। यहाँ पूरी नाउम्मीदी (और मौत) के बीच मुझे इस किताब से आशा की किरणें फूटती दिखाई देती हैं और यह संतोष होता है कि मानवीयता अभी खत्म नहीं हुई है।

मैं यह भी कहना चाहूंगी कि बिना आपकी अनुमति के आपके विचार और भाषा को मैंने नेपाली में लिखी कविताओं में उतार लिया है। मैंने यह इसलिए भी किया है कि जब कोई लेखक अपनी पुस्तक प्रकाशित करा देता है तो वह सिर्फ उसकी सम्पदा नहीं रह जाती, वह आम जन की हो जाती है।

मैं मई महीने में नेपाल वापस पहुँचूंगी, यदि आप आ सकें तो मेरा आतिथ्य स्वीकार करें। मुझे बहुत खुशी होगी।

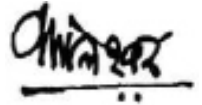
आपकी
अरुणा उप्रेती

••

मैंने उत्तर दे दिया था। फिर सितम्बर में मुझे डॉ. अरुणा उप्रेती का पत्र मिला कि वे मेडिकल टीम के साथ अफ़गानिस्तान से इराक चली गई थीं। ज़रूरी चीज़ों की तरह वे इस उपन्यास को भी साथ ले गई थीं। पर इराक में बढ़ते फिदायीन हमलों के कारण उन्हें वापस नेपाल भेज दिया गया है। और वे दिल्ली आकर मुझ से मिलेंगी।

तो इस आठवें संस्करण की भूमिका के लिए फिलहाल इतना ही।

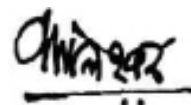
5/116, इरोज गार्डन,
सूरजकुण्ड रोड, नई दिल्ली-110044



और अब नौवाँ संस्करण

मैं अपने पाठकों का बहुत आभारी हूँ। यह नवम संस्करण मैं भारत के उन पाठकों को समर्पित करता हूँ जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं है। खासतौर से इसलिए कि अन्य मातृभाषा वाले पाठकों के पत्रों से उनकी यह इच्छा ज़ाहिर हुई कि वे 'कितने पाकिस्तान' पढ़ना चाहते हैं, ज़ाहिर था कि वे हिन्दी में प्रकाशित उपन्यास ही पढ़ना चाहते थे, क्योंकि उन्हें अपनी भाषा में प्रकाशित अनुवाद की जानकारी नहीं थी। वैसे 'कितने पाकिस्तान' का अनुवाद, अब तक उर्दू, मराठी, गुजराती, पंजाबी, ओड़िया और बंगला में हो चुका है और अन्य लगभग सभी भारतीय भाषाओं में हो रहा है। लेखन की सार्थकता और विस्तृत पाठकवर्ग तक इसके पहुँचने का गहरा संतोष मुझे अगला उपन्यास लिखने की प्रेरणा देता है। मैं नये उपन्यास का लेखन शुरू कर चुका हूँ।

'कितने पाकिस्तान' का अंग्रेज़ी अनुवाद जनवरी 2006 में आ गया है और इसे अंतर्राष्ट्रीय पाठकवर्ग के लिए पेंग्विन बुक्स ने प्रकाशित किया है। साथ ही इसका अनुवाद स्पेनिश, फ्रेंच और जर्मन में भी प्रस्तावित है। यह जानकारी मात्र इसलिए कि मैं अपने पाठकों को अपनी इस खुशी और लेखकीय संतोष में शामिल करना चाहता हूँ।



एक भूली हुई दास्तान उसे याद आती है।

वह तो एक बंजर जमीन से आया था। खामोश आकर्षणों की दुनिया से, जहाँ कहा कुछ भी नहीं जाता। मन ही मन में कुछ अरमान करवटें लेते हैं। अनबूझी इच्छाएँ आती और चली जाती हैं...और कस्बाई सपने छतों पर फैले कपड़ों की तरह धूप उतरते ही बटोर लिए जाते हैं। कुछ अनकहे धुंधले-से अक्स स्मृतियों में उलझे रह जाते हैं, जो न घटते हैं न बढ़ते हैं। बस, पानी के दाग की तरह वजूद के लिबास पर नक्श हो जाते हैं।

उसका पूरा क़स्बा, उसके क़स्बे का अपना मोहल्ला, मोहल्ले की कई खिड़कियाँ भी उसे मौन हसरत से देखती दिखाई दी थीं। कभी-कभी बरसात के दिनों में लौटते हुए पाँवों के निशान दिखाई पड़ जाते थे। ज्यादा बारिश हुई तो निशान पहले तो भरी आँख की तरह डबडबाते थे, फिर देखते-देखते मिट जाते थे। वापस गए पैर फिर नज़र नहीं आते थे। कुछ आँखें थीं, जो कहना तो बहुत कुछ चाहती थीं, पर उन्होंने कभी कुछ कहा नहीं था। कहीं कोई काजल लगी आँख उलझी थी। किसी खिड़की में हल्की-सी कोई परछाई। किसी में इशारा करती कोई उँगली। कहीं शरमा के लौटते हुए अधूरे अरमान और कहीं किसी मजबूरी की कोई दास्तान...

अजीब दिन थे।

नीम के झरते हुए फूलों के दिन।

कनेर में आती पीली कलियों के दिन।

न बीतनेवाली दोपहरियों के दिन।

और फिर एक के बाद एक, लगातार बीतते हुए दिशाहीन दिन।

उन दिनों भविष्य कहीं था ही नहीं। एक व्यर्थ वर्तमान साथ था जो बस, चलता जाता था। यह आज़ादी से ठीक पहले का दौर था। रेलगाड़ियों में आरक्षण की सुविधा और सिस्टम नहीं था। अब उसे याद नहीं—विद्या शायद साइंस में थी, पर छुट्टियाँ साथ-साथ होती थीं, इसलिए वे इलाहाबाद स्टेशन पर मिल ही जाते थे। विद्या फतेहगढ़ की थी। तीज-त्यौहार और फिर गर्मियों की छुट्टियाँ। अपने-अपने घर जाने के लिए एकाध बार तो उससे ऐसे ही मुलाकात हुई, फिर जब भी कोई छुट्टी आती तो स्टेशन पर एक-दूसरे का इंतज़ार करने लगे। न मालूम यह कैसा लगाव था कि प्लेटफार्म पर, एक तब तक रुका रहता था, जब तक दूसरा आ नहीं जाता था। अनकहे तरीके से यह तय हो गया था कि छुट्टी होने वाले दिन की सुबह, पहली पैसिंजर गाड़ी से ही सफ़र किया जाएगा। उन दिनों भी कुछ तेज़